Volume: 5 Issue: 6 Pages: 30-32

भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी उपन्यास: अस्मिता, विस्थापन और बदलती संस्कृति

[*1] डॉ. शिव कुमार व्यास

[*1] उपप्राचार्य, जी. एस. महाविद्यालय, जबलपुर, मध्यप्रदेश, भारत।

Article Info.
E-ISSN: 2583-6528
Impact Factor (QJIF): 8.4
Peer Reviewed Journal
Available online:
www.alladvancejournal.com

Received: 02/May/2026
Accepted: 05/June/2026

Corresponding Author
डॉ. शिव कुमार व्यास
उपप्राचार्य, जी. एस. महाविद्यालय, जबलपुर, मध्यप्रदेश, भारत।

सारांश
बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों ने २१वीं सदी के आते-आते भारतीय समाज के आंतरिक ढाँचे को समूल परिवर्तित कर दिया है। भूमंडलीकरण ने जहाँ एक ओर भौगोलिक दूरियों को मिटाकर विश्व को एक 'वैश्विक ग्राम' में तब्दील किया, वहीं दूसरी ओर इसने स्थानीय संस्कृतियों, मानवीय संवेदनाओं और पारंपरिक सामाजिक संस्थाओं के समक्ष गहरा संकट उत्पन्न कर दिया है। साहित्य समाज की गत्यात्मकता का जीवंत दस्तावेज़ होता है; अतः समकालीन हिंदी उपन्यासों ने भूमंडलीकरण के इस बहुआयामी प्रभाव को बेहद संजीदगी और आक्रामक प्रतिरोध के साथ दर्ज किया है। प्रस्तुत शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिंदी उपन्यासों के भीतर उभरने वाले तीन केंद्रीय विमर्शों—अस्मिता का संकट, भौतिक व मानसिक विस्थापन तथा उपभोक्तावादी बाज़ार के कारण बदलती संस्कृति का आलोचनात्मक एवं समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना है। यह आलेख अलका सरावगी, संजीव, महुआ माजी, उदय प्रकाश, मैत्रेयी पुष्पा और अनूप कुमार जैसे प्रतिनिधि रचनाकारों के उपन्यासों के आलोक में यह उद्घाटित करता है कि नव-उदारवादी पूंजीवाद ने किस प्रकार हाशिए के समाज (स्त्री, दलित, किसान और आदिवासी) को उसकी जड़ों से बेदखल कर अस्मिता विहीनता की ओर धकेला है। अंततः, यह शोध यह भी रेखांकित करता है कि समकालीन हिंदी उपन्यास इन विसंगतियों के विरुद्ध किस प्रकार एक वैचारिक और सांस्कृतिक प्रतिरोध की भूमिका निर्मित कर रहा है।

मुख्य शब्द: भूमंडलीकरण, हिंदी उपन्यास, अस्मिता विमर्श, विस्थापन, उत्तर-आधुनिकता, बाज़ारवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, महानगरीय बोध।

1. प्रस्तावना:

भूमंडलीकरण का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य और हिंदी उपन्यास

भूमंडलीकरण मूलतः एक ऐसी बहुआयामी प्रक्रिया है जिसने संपूर्ण विश्व की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सीमाओं को लांघकर एक अखंड वैश्विक बाज़ार की स्थापना की है। फ्रेडरिक जेमसन ने इसे "उत्तर-पूंजीवाद का सांस्कृतिक तर्क" कहा है, वहीं डेविड हार्वे इसे "समय और स्थान का संकुचन" मानते हैं। भारत में सन १९९१ के आर्थिक सुधारों के बाद जिस तीव्र गति से बहुराष्ट्रीय कंपनियों, सूचना प्रौद्योगिकी, इंटरनेट और कॉरपोरेट संस्कृति का आगमन हुआ, उसने यहाँ के सदियों पुराने पारंपरिक ताने-बाने को झकझोर कर रख दिया।

साहित्यिक विधाओं में उपन्यास अपनी व्यापक कैनवास और जीवन को समग्रता में समेटने की क्षमता के कारण इस बदलाव को दर्ज करने में सबसे आगे रहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उपन्यास को "मानव जीवन का कल्पित चित्र" कहा था, परंतु आज का समकालीन उपन्यास कल्पित न होकर भूमंडलीकरण के दौर के क्रूरतम यथार्थ का जीवंत दस्तावेज़ बन चुका है।

प्रेमचंद के युग का उपन्यास जहाँ सामंतवाद और औपनिवेशिक दासता से लड़ रहा था, रेणु का उपन्यास आंचलिकता की सोंधी गंध और ग्रामीण यथार्थ को समेट रहा था, वहीं २१वीं सदी का हिंदी उपन्यास वैश्विक पूंजी के क्रूर पंजों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दफ्तरों, बिखरते संयुक्त परिवारों, मॉल-संस्कृति, साइबर स्पेस और रोबोटिक होती जा रही मानवीय संवेदनाओं से सीधे साक्षात्कार कर रहा है। आज का उपन्यासकार केवल देश के भीतर की समस्याओं को नहीं देख रहा, बल्कि वह यह देख रहा है कि कैसे वाशिंगटन या बीजिंग में लिए गए आर्थिक फैसले भारत के सुदूर छत्तीसगढ़ के आदिवासी या बुंदेलखंड के किसान की नियति तय कर रहे हैं।

2. भूमंडलीकरण और अस्मिता का संकट

भूमंडलीकरण ने मनुष्य को उसकी विशिष्ट सांस्कृतिक और स्थानीय पहचान से वंचित कर उसे केवल एक 'वैश्विक उपभोक्ता' के रूप में री-ब्रांड कर दिया है। बाज़ार को विविधता पसंद नहीं है; वह समरूपता चाहता है ताकि उसका उत्पाद हर जगह बिक सके। इस समरूपता की प्रक्रिया ने व्यक्ति के भीतर 'अस्मिता का संकट' उत्पन्न

कर दिया है। समकालीन हिंदी उपन्यासों में इस संकट को तीन स्तरों पर देखा जा सकता है:

2.1 जड़ों से कटना और त्रिशंकु बोध

महानगरों के विस्तार और कॉरपोरेट नौकरियों के आकर्षण ने कस्बों और गाँवों से बड़े पैमाने पर युवाओं को खींचा है। ये युवा जब महानगरों या विदेशों में जाकर बसते हैं, तो वे अपनी मूल संस्कृति और आधुनिक पाश्चात्य जीवनशैली के बीच एक अंतहीन द्वंद्व में फंस जाते हैं। अलका सरावगी का उपन्यास **'कलिकथा:** वाया बाईपास' कोलकाता के व्यापारिक समुदाय के माध्यम से इस द्वंद्व को बहुत सूक्ष्मता से दिखाता है। उपन्यास का नायक किशोर बाबू अपनी जड़ों की तलाश में भटकता है। वह देखता है कि कैसे नई पीढ़ी के लिए अतीत के मूल्य और स्वतंत्रता संग्राम के आदर्श कोई मायने नहीं रखते और वे पूरी तरह बाज़ार के रंग में रंग चुके हैं।

2.2 स्त्री अस्मिता और न्यू लिबरल इकॉनमी

भूमंडलीकरण ने स्त्री को आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने के अवसर तो दिए, लेकिन साथ ही बाज़ार ने स्त्री की देह और उसकी अस्मिता को एक 'बिकने वाली वस्तु' में तब्दील कर दिया। विज्ञापन उद्योग और कॉर्पोरेट जगत ने स्त्री मुक्ति की एक छद्म परिभाषा गढ़ी है। अनामिका का उपन्यास '१० द्वारे का पिंजरा' और मनीषा कुलश्रेष्ठ के उपन्यासों में इस छद्म आधुनिकता का पर्दाफाश किया गया है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बावजूद कॉरपोरेट क्षेत्र में काम करने वाली स्त्रियाँ किस प्रकार मानसिक और यौन शोषण का शिकार होती हैं और कैसे उनकी अस्मिता को एक कॉर्पोरेट टूल की तरह इस्तेमाल किया जाता है, इसका तीखा यथार्थ यहाँ मौजूद है। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' हाशिए की कबूतरा जाति की स्त्रियों की अस्मिता और उनके अस्तित्व के संघर्ष को वैश्विक विकास के समानांतर रखकर दिखाता है।

2.3 दलित और आदिवासी अस्मिता का नया विमर्श

वैश्विक पूंजी ने सबसे ज्यादा प्रहार समाज के सबसे निचले पायदान पर बैठे लोगों पर किया है। दलित और आदिवासी अस्मिता का संघर्ष अब केवल सामाजिक छुआछूत तक सीमित नहीं है, बल्कि वह वैश्विक पूंजीपतियों द्वारा उनके प्राकृतिक संसाधनों को हड़पने के खिलाफ संघर्ष बन गया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि और जयप्रकाश कर्दम के उपन्यासों में यह स्पष्ट दिखता है कि कैसे आधुनिकता और बाज़ार ने जातिवाद का एक नया, कॉरपोरेट रूप तैयार कर लिया है, जहाँ नाम और योग्यता के पीछे भी छिपी हुई जातीय संकीर्णता काम करती है।

3. विस्थापन की त्रासदी: भौतिक, सामाजिक और मानसिक

भूमंडलीकरण के इस दौर की सबसे वीभत्स और कारुणिक परिघटना है—विस्थापन। 'विकास' की जिस नव-उदारवादी अवधारणा को हम पर थोपा गया है, उसकी कीमत हमेशा गरीबों, किसानों और आदिवासियों को चुकानी पड़ती है। समकालीन हिंदी उपन्यासों ने विस्थापन के इस बहुआयामी यथार्थ को अपनी कथावस्तु का केंद्र बनाया है।

3.1 विकास के नाम पर भौतिक बेदखली और आदिवासी यथार्थ

बहुराष्ट्रीय कंपनियों को खनन, बांध निर्माण और विशेष आर्थिक क्षेत्र के लिए ज़मीन चाहिए। यह ज़मीन उन आदिवासियों की है जो सदियों से जल, जंगल और ज़मीन को ही अपना ईश्वर मानते आए हैं। महुआ माजी का बहुचर्चित उपन्यास 'मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ' झारखंड के जादूगोड़ा में यूरेनियम खनन के कारण बर्बाद हो रहे आदिवासी जीवन की रोंगटे खड़े कर देने वाली दास्तान है। यह उपन्यास दिखाता है कि कैसे वैश्विक परमाणु होड़ की कीमत वहाँ के स्थानीय आदिवासियों को कैंसर, विकलांगता और अपनी पैतृक भूमि से बेदखल होकर चुकानी पड़ रही है।

इसी तरह, संजीव का उपन्यास 'फांस' पश्चिमी उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र के कपास पट्टी के किसानों की दुर्दशा और आत्महत्याओं के चक्रव्यूह को उद्घाटित करता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के महंगे बीज, कीटनाशक और वैश्विक बाज़ार के उतार-चढ़ाव के कारण किसान कर्ज के दलदल में धंस जाता है। अपनी ज़मीन से बेदखल होना केवल एक आर्थिक परिघटना नहीं है, बल्कि यह एक पूरी संस्कृति, लोकगीतों, परंपराओं और जीने के अधिकार का विस्थापन है।

3.2 महानगरीय पलायन और मलिन बस्तियों का यथार्थ

गाँवों के उजाड़ होने के बाद जो आबादी महानगरों (दिल्ली, मुंबई, बेंगलुरु) की तरफ भागती है, उसे वहाँ 'ग्लोबल सिटी' के चमचमाते टावरों के नीचे बनी गंदी और अमानवीय बस्तियों में पनाह मिलती है। अजय नावरिया और अनूप कुमार के उपन्यासों में इस महानगरीय विस्थापन का नग्न रूप देखा जा सकता है। ये मजदूर शहरों का निर्माण तो करते हैं, लेकिन खुद उस शहर के नक्शे से गायब रहते हैं। वे अपनी पहचान खोकर केवल एक 'सस्ते श्रम' में बदल जाते हैं।

3.3 मानसिक और वैचारिक अलगाव

विस्थापन केवल भौतिक नहीं है; मध्यवर्ग और उच्च-मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा आज मानसिक विस्थापन का शिकार है। संयुक्त परिवारों के टूटने और अत्यधिक कार्य-दबाव के कारण महानगरों में अकेले रहने वाले फ्लैट्स की संस्कृति विकसित हुई है। कृष्ण बलदेव वैद और विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यासों में इस अकेलेपन की गूंज सुनाई देती है। व्यक्ति अपने पड़ोस से, अपने परिवार से और अंततः खुद अपने आप से विस्थापित हो चुका है। कार्ल मार्क्स का 'अलगाव का सिद्धांत' आज के कॉरपोरेट कर्मचारियों पर हूबहू लागू होता है, जहाँ वे एक बड़ी मशीन के पुर्जे मात्र बनकर रह गए हैं।

4. बदलती संस्कृति, बाज़ारवाद और नैतिक संक्रमण

भूमंडलीकरण का सबसे गहरा और स्थायी प्रभाव हमारी सांस्कृतिक चेतना पर पड़ा है। संस्कृति अब जीवन जीने की पद्धति नहीं रही, बल्कि वह एक 'कमर्शियल प्रोडक्ट' बन चुकी है। अमेरिकी समाजशास्त्री जॉर्ज रिट्ज़र ने इसे "समाज का मैकडोनाल्डीकरण" कहा है। हिंदी उपन्यासकारों ने इस सांस्कृतिक संक्रमण को बहुत बारीकी से और विभिन्न कोणों से परखा है।

4.1 उपभोक्तावाद और जीवन मूल्यों का पतन

उदय प्रकाश की प्रसिद्ध कृति 'पीली छतरी वाली लड़की' बाज़ारवाद के इसी सांस्कृतिक आक्रमण का जीवंत उदाहरण है। यह उपन्यास दिखाता है कि कैसे शिक्षा, प्रेम और मानवीय संबंध सब कुछ बाज़ार के सिद्धांतों से संचालित हो रहे हैं। उपभोक्तावाद ने युवाओं के भीतर "अभी और सब कुछ" पाने की अंधी चाहत पैदा कर दी है। इसके कारण नैतिक मूल्यों, ईमानदारी और संवेदनशीलता का तेज़ी से क्षरण हो रहा है।

पारंपरिक भारतीय मूल्य	भूमंडलीकरण के उपभोक्तावादी मूल्य
संतोष और अपरिग्रह	अंतहीन उपभोग और संचय
संयुक्त परिवार और सामाजिक सहकार	अत्यधिक व्यक्तिवाद
प्रकृति के साथ साहचर्य	प्रकृति का अंधाधुंध दोहन
भाषा और संस्कृति के प्रति गौरव	हाइब्रिड पहचान और सांस्कृतिक हीनभावना

4.2 पारिवारिक संस्था का बिखराव और वृद्ध विमर्श

बाज़ार को केवल कमाने और खर्च करने वाले लोग पसंद हैं; जो

अनुत्पादक हैं (जैसे वृद्ध और बच्चे), वे बाज़ार के लिए बोझ हैं। यही सोच हमारे परिवारों में भी पैठ बना चुकी है। समकालीन उपन्यासों में वृद्धों की उपेक्षा और अकेलेपन को प्रमुखता से उठाया गया है। प्रभात रंजन का उपन्यास 'पालगी' और चंद्रकांता के उपन्यासों में बिखरते हुए पारिवारिक ढाँचे, बूढ़े माता-पिता की बेबसी और फ्लैट संस्कृति के भीतर पनपते क्रूर सन्नाटे को बहुत मार्मिकता से उकेरा गया है।

4.3 भाषाई हाइब्रिडिटी और 'हिंग्लिश' का उभार

संस्कृति का एक मुख्य वाहक भाषा होती है। भूमंडलीकरण ने हिंदी भाषा के स्वरूप को भी बदल दिया है। कॉरपोरेट विज्ञापन और मीडिया ने एक ऐसी हाइब्रिड भाषा ('हिंग्लिश') को जन्म दिया है जो अपनी अस्मिता से कटी हुई है। समकालीन उपन्यासों (जैसे कि सत्य व्यास या दिव्य प्रकाश दुबे के उपन्यास) में संवादों और नैरेशन की भाषा में इस बदलाव को साफ देखा जा सकता है। जहाँ एक ओर यह भाषा युवाओं के करीब पहुँचने का दावा करती है, वहीं दूसरी ओर यह हिंदी के शास्त्रीय और लोक-मुहावरों की समृद्ध विरासत को नष्ट कर रही है।

5. समकालीन उपन्यासों में प्रतिरोध के विविध स्वर

यदि भूमंडलीकरण का प्रभाव इतना विनाशकारी है, तो क्या हिंदी उपन्यास केवल इस विनाश का विलाप कर रहा है? नहीं। समकालीन हिंदी उपन्यास की सबसे बड़ी ताकत यह है कि वह इस दमनकारी वैश्विक व्यवस्था के सामने घुटने नहीं टेकता, बल्कि उसके खिलाफ एक सुदृढ़ प्रतिरोध की दीवार खड़ी करता है।

इतिहास और लोक की ओर लौटना: बाज़ारवाद के इस दौर में कई उपन्यासकार इतिहास और अपनी लोक-संस्कृति की ओर लौट रहे हैं ताकि वे अपनी पहचान को बचा सकें। भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'काला पहाड़' या 'बाबल तेरा देस में' मेवात अंचल की लोक-संस्कृति के माध्यम से सांप्रदायिकता और बाज़ारवाद दोनों के खिलाफ एक साझी विरासत को प्रस्तुत करते हैं।

पारिस्थितिकीय प्रतिरोध): पर्यावरण का विनाश भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा सह-उत्पाद है। समकालीन उपन्यासकार प्रकृति को बचाने के संघर्ष को मनुष्य को बचाने के संघर्ष के रूप में देखते हैं। विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यासों में प्रकृति के प्रति जो अगाध प्रेम और सहजता है, वह इस आपाधापी भरे कॉरपोरेट युग के खिलाफ सबसे शांत लेकिन सबसे गहरा प्रतिरोध है।

6. समकालीन हिंदी उपन्यासों की शिल्पगत नवीनता

भूमंडलीकरण ने न केवल उपन्यासों की विषयवस्तु को बदला, बल्कि उसके शिल्प और विन्यास को भी पूरी तरह से बदल दिया है। अब उपन्यास सीधे और रैखिक तरीके से नहीं लिखे जा रहे हैं।

मोंटाज और केंटो शिल्प: सिनेमा और इंटरनेट के प्रभाव से उपन्यासों में 'मोंटाज' पद्धति का प्रयोग बढ़ा है, जहाँ कई दृश्य एक साथ चलते हैं। फ्लैशबैक और फ्लैश-फॉरवर्ड का तकनीकी इस्तेमाल बढ़ा है।

साइबर स्पेस का अंतर्भाव: उपन्यासों की कथावस्तु में अब ईमेल, व्हाट्सएप चैट, फेसबुक पोस्ट और ब्लॉग्स के स्क्रीनशॉट को सीधे शामिल किया जा रहा है, जो उत्तर-आधुनिक शिल्प की विशेषता है।

बहुध्वन्यात्मकता: मिखाइल बाख्तिन के बहुध्वन्यात्मकता के सिद्धांत के अनुसार, समकालीन उपन्यासों में अब केवल लेखक की एक आवाज़ नहीं होती, बल्कि अलग-अलग पात्रों की अपनी स्वतंत्र विचारधाराएँ और बोलियाँ होती हैं, जो लोकतांत्रिक विमर्श को जन्म देती हैं।

निष्कर्ष:

गहन विश्लेषण के उपरांत यह स्पष्ट होता है कि भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी उपन्यास ने वैश्विक और स्थानीय के बीच के तनाव को बहुत प्रखरता से अभिव्यक्ति दी है। यह सच है कि इस दौर ने समाज में अस्मिता का अभूतपूर्व संकट पैदा किया है, लाखों लोगों को अपनी ज़मीन से बेदखल कर विस्थापित होने पर मजबूर किया है और हमारी साझी सांस्कृतिक विरासत को उपभोक्तावाद के बाज़ार में नीलाम करने का प्रयास किया है।

परंतु, हिंदी उपन्यास इस संकट काल में एक सजग प्रहरी की तरह खड़ा है। वह बाज़ार की चमक-दमक के पीछे छिपे हुए अँधेरे को उजागर करता है। वह हाशिए के लोगों, आदिवासियों, स्त्रियों और किसानों के अधिकारों की लड़ाई को अपने भीतर समेटकर वैश्विक पूंजीवाद को चुनौती देता है। समकालीन हिंदी उपन्यासकार यह भली-भांति जानते हैं कि जब तक मनुष्य के भीतर संवेदना, करुणा और प्रतिरोध की चेतना जीवित है, तब तक बाज़ार पूरी तरह से मनुष्यता पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। अतः, भूमंडलीकरण के दौर का हिंदी उपन्यास महज़ समकालीन समय का आईना नहीं है, बल्कि वह मानवीय गरिमा को अक्षुण्ण रखने का एक अनिवार्य वैचारिक आयुध भी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. सरावगी, अलका. (१९९८). कलिकथा: वाया बाईपास. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
2. संजीव. (२०१५). फांस. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
3. माजी, महुआ. (२०१२). मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
4. पुष्पा, मैत्रेयी. (२००१). अल्मा कबूतरी. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
5. प्रकाश, उदय. (२००१). पीली छतरी वाली लड़की. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
6. रंजन, प्रभात. (२०१९). पालगी. नई दिल्ली: हिंद युग्म प्रकाशन.
7. सिंह, नामवर. (२००४). संस्कृति और अस्मिता. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
8. जेमसन, फ्रेडरिक. (१९९१). पोस्टमोडर्निज़्म, और द कल्चरल लॉजिक ऑफ़ लेट कैपिटलिज्म. डरहम: ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस.
9. हार्वे, डेविड. (१९८९). द कंडीशन ऑफ़ पोस्टमोडर्निज़्म. ऑक्सफोर्ड: ब्लैकवेल.
10. रिट्ज़र, जॉर्ज. (२००४). द मैकडोनाल्डीकरण ऑफ़ सोसाइटी. कैलिफ़ोर्निया: पाइन फोर्ज प्रेस.
11. तिवारी, रामचंद्र. (२०१८). हिंदी का गद्य-साहित्य. इलाहाबाद: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
12. कुमार, सुधीश. (२०१६). "वैश्वीकरण, बाज़ार और समकालीन हिंदी उपन्यास", सामयिक विमर्श पत्रिका, वर्ष १२, अंक ३, पृ. २५-३४.
13. मिश्र, गिरीश. (२०१०). भूमंडलीकरण: वैचारिक और सांस्कृतिक आयाम. नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी.
14. शर्मा, रामविलास. (१९९९). भारतीय संस्कृति और हिंदी साहित्य. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन.